अङ्क-२४ वेदविद्या
जुलाई-दिसम्बर २०१४ ISSN-२२३०-८९६२

वेदभाष्यकारों की दृष्टि में मन्त्रार्थ के उपकरण

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री

वेद ईश्वरीय ज्ञान का वह स्रोत है, जो मानव-जाति को सर्वप्रथम प्राप्त हुआ। पुरातन होते हुए भी उसमें नित्य नूतनता के दर्शन होते हैं। इस वैशिष्ट्य को स्वयं रेखाङ्कित करता हुआ वेद कहता है-

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति॥ (ऋ०१.१.२)

`प्राचीन और अर्वाचीन सभी चेतनासम्पन्न मनुष्य अग्नि की उपासना करते हैं, वह अग्नि ही है जो देवताओं को लेकर आता है।' अग्नि की उपासना किये जाने का कारण यह है कि यह अग्नि हमारा पुरोहित है।[१] जब भी मानव ने विकास के सोपान चढ़े हैं, आध्यात्मिक अग्नि या फिर भौतिक अग्नि ने उसका पथ प्रशस्त किया है। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों में ही वेद की महत्ता को निरूपित किया गया है।

वेद न केवल ज्ञान का अपितु सत्य का भी उत्स है। वेद से सत्य का पथ प्रशस्त होता है, लेकिन यह वेद का ज्ञान उसका अध्ययन करने वाले को ही प्राप्त होता है ;-

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥ ऋ०१०.७१.६

'जो वेद का अध्ययन करता है, वेद उसका मित्र है। यह मित्र (वेद) उसे सब प्रकार का ज्ञान सिखाता है। जो व्यक्ति ज्ञान सिखाने वाले मित्र का परित्याग कर देता है, उसे वाणी में कोई भाग नहीं मिलता है। वेद को छोड़कर अन्य जो कुछ वह सुनता और पढ़ता है, उसका सुनना और पढ़ना व्यर्थ है, क्योंकि उससे सुकृत का पथ प्रशस्त नहीं होता है।' कहने का आशय यह है कि सुकृत का पथ प्रशस्त करने के लिये वेद का अध्ययन आवश्यक है।

जिस वेद का इतना महत्त्व है, उसके अर्थ तक पहुँचना कितना महत्त्वपूर्ण हो सकता है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। पाणिनीयशिक्षा में वेदपुरुष की कल्पना करते हुए मन्त्रार्थ के सहायक उपकरणों का उल्लेख किया गया है ;-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥

---

१. अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ -(ऋ०१.१.१)

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥[२]

`छन्द वेदपुरुष के पाद हैं, कल्प उसके हाथ हैं, ज्योतिष उसके नेत्र हैं, निरुक्त उसका श्रोत्रस्थानीय है, शिक्षाशास्त्र उसकी नासिका है और व्याकरण उस वेदपुरुष का मुख है।'

प्राणी पैरों से चलते हैं, जबकि वेदरूपी पुरुष छन्दस्-रूप पैरों से चलता है, मनुष्य हाथों से कार्य सम्पन्न करते हैं, जबकि वेदरूपी पुरुष कल्परूपी हाथों से यज्ञादि कार्यों को सम्पन्न करता है। प्राणी नेत्रों से देखते हैं, जबकि वेदरूपी पुरुष ज्योतिष्-रूप नेत्रों से खगोल का दर्शन करता है, प्राणी कानों से सुनते हैं, जबकि वेदरूपी पुरुष निरुक्त-रूप कानों से सुनता है। प्राणी नासिका से सूँघते हैं, जबकि वेदरूपी पुरुष शिक्षाशास्त्ररूपी नासिका से शुद्ध और अशुद्ध का निश्चय करता है। प्राणी मुख से भोजन करते हैं, जबकि वेदरूपी पुरुष व्याकरणरूपी मुख से मन्त्रार्थ का बोध प्राप्त करता है।

निष्कर्ष-रूप में कह सकते हैं कि पाद आदि अङ्गों का जो महत्त्व मनुष्यशरीर में है, वही महत्ता मन्त्रार्थ की दृष्टि से छन्दस्, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा और व्याकरण इन छः वेदाङ्गों की है। मन्त्रार्थ की दृष्टि से हम यह आशय ग्रहण कर सकते हैं कि ये छः वेदाङ्ग वेदभाष्य के सबसे प्रमुख उपकरण हैं, इनकी उपेक्षा करके मन्त्र के रहस्य को उद्घाटित नहीं किया जा सकता।

वेदभाष्यकारों की दृष्टि में मन्त्रार्थ के उपकरण

विना किसी विवाद के यह स्वीकार किया जा सकता है कि मन्त्रार्थ के लिये ही वेदाङ्गों का गठन किया गया है, इसलिये वे निश्चित-रूप से मन्त्रार्थ में सहायक हैं, लेकिन यह जानना उपयोगी होगा कि वेदभाष्यकार आचार्यों की दृष्टि में उक्त के अतिरिक्त और कौन-से उपकरण मन्त्रार्थ के लिये उपयोगी हो सकते हैं ?

आचार्य यास्क

मन्त्रार्थ के लिये आवश्यक अर्हता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं-`**यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति**'[३] मन्त्र के कतिपय शब्द अस्पष्टार्थक होते हैं, इसके समाधान के प्रसङ्ग में आचार्य यास्क ने उक्त वक्तव्य दिया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार जनपद में शिल्प, चित्र आदि कलाओं में हस्तलाघव आदि कुशलता के कारण कोई पुरुष `विशेष' अर्थात् अन्यों से श्रेष्ठ हो जाता है, उसी प्रकार गुरुमुख से मन्त्रार्थ-शिक्षा में कुशलता प्राप्त करने वाले पुरुषों में भूयोविद् अर्थात् विज्ञानविद् या अधिक ज्ञान वाला पुरुष `विशेष' अर्थात् अन्यों में श्रेष्ठ हो जाता है। यही कारण है कि कुछ लोग स्पष्ट अर्थ वाले मन्त्रों का व्याख्यान करने में

---

२. पाणिनीयशिक्षा-४१-४२
३. निरु.१.१६

समर्थ नहीं पाते हैं, जबकि वहीं कुछ मन्त्रार्थ-कौशल में प्रवीण विद्वान् अस्पष्ट अर्थ वाले मन्त्रों को भी विस्पष्ट कर देते हैं। `**उत त्वः०**' मन्त्र के द्वारा आचार्य ने इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है।[४] साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों से भिन्न पारोवर्यविद् अर्थात् आचार्य-परम्परा से मन्त्रार्थ-ज्ञान प्राप्त करने वालों में भूयोविद्य (बहुश्रुत) प्रशंसा का पात्र होता है। ऐसे विद्वान् व्यक्ति के लिये कुछ भी अस्पष्ट नहीं होता है।[५]

वेदार्थ के लिये भूयोविद्य होना बहुत आवश्यक है, इसका सङ्केत आचार्य यास्क निर्वचन के प्रकरण में भी करते हुए कहते हैं कि मन्त्रार्थ करते समय मन्त्रार्थकर्त्ता को लौकिक धातुओं से वैदिक प्रत्यय, वैदिक धातुओं से लौकिक प्रत्यय के साथ लोकभाषा का भी विस्तृत ज्ञान होना चाहिये,[६] क्योंकि कहीं पर प्रकृतिरूप का प्रयोग होता है और कहीं उसके विकृतिरूप नामादि का। यास्क इस तथ्य से परिचित हैं कि धातु किसी एक देश की भाषा की हो सकती है तथा उससे निष्पन्न होने वाला नाम किसी दूसरी भाषा का,[७] क्योंकि वे जानते हैं कि वेद में ऐसे बहुत से शब्द हैं, जिनका प्रकृति-प्रत्यय ज्ञात नहीं है। व्याकरण का गठन करने वाला व्यक्ति कितना ही योग्य क्यों न हो, वह समस्त देशों की भाषाओं के आख्यात, नामपद आदि का परिगणन नहीं कर सकता, इसलिये ऐसे बहुत से आख्यात शब्द परिगणित होने से छूट सकते हैं, जिनके अभाव में उनसे निष्पन्न तथा व्यवहार में प्रचलित नामपदों को व्युत्पन्न करना सम्भव नहीं है, इसलिये यास्क जो अन्य भाषाओं से सहायता लेने की बात कर रहे हैं, वह सर्वथा उचित है।

यास्क के उक्त वक्तव्य की पुष्टि महाभाष्यकार के निम्न कथन से हो जाती है-`**एतस्मिन्नतिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दाः तत्र तत्र नियतविषयाः दृश्यन्ते। तद्यथा- शवतिः गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एनमार्याः भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्येषु। गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिः लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु।**'[८]

यास्क और पतञ्जलि के उपर्युक्त वचनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मन्त्रार्थ का प्रथम उपकरण भूयोविद् होना है।

---

४. ऋ०१०.७१.४.निरु०१.१९

५. दुर्ग, निरु०वृ०, १.१६ पृ०,९८

६. निरु.२.२ अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते। दमूनाः। क्षेत्रसाधा इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः। उष्णम्, घृतमिति।

७. निरु.२.२ अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। कम्बोजाः कम्बलभोजाः, कमनीयभोजा वा। कम्बलः कमनीयो भवति। विकारमस्यार्येषु भाष्यन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु। दात्रमुदीच्येषु।

८. महाभाष्य, पस्पशाह्निक

भूयोविद् के अतिरिक्त मन्त्रार्थकर्त्ता के लिये किन उपकरणों की आवश्यकता हो सकती है, इसका प्रतिपादन करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं-`**अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूऽहोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात्।**'[९] मन्त्रार्थचिन्तन का विचार श्रुति और तर्क से दृढ होता है। मन्त्र का अर्थ प्रकरण के अनुसार करना चाहिये, कभी भी मन्त्रार्थ प्रकरण से पृथक् करके नहीं करना चाहिये। जो ऋषि या तपस्वी नहीं है, उसे मन्त्र का अर्थ प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। पर और अवर अर्थात् प्रारम्भ और अन्त, उद्गम और पर्यवसान जानने वाले विद्वानों में भूयोविद्य (अधिक विद्यावान्) श्रेष्ठ माना जाता है, यह पहले ही कहा जा चुका है।

प्रस्तुत उक्त विवेचन में यास्क यह कहते हैं कि जो ऋषि या तपस्वी नहीं है, उसे मन्त्रार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।[१०] मन्त्रार्थ को प्रत्यक्ष करने का अधिकारी कौन है ? इस प्रश्न को उठाते हुए आचार्य यास्क कथा के माध्यम से उक्त समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं-कथा के अनुसार ऋषियों के पृथिवी से समाप्त हो जाने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा कि अब कौन ऋषि हमारे लिये मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष करेगा ? तब देवों ने मन्त्रार्थ का चिन्तन कर सकने में समर्थ तर्क मनुष्यों को प्रदान किया। इस कारण जो कुछ भी अनूचान (वेद का साङ्गोपाङ्ग विद्वान्) तर्क के आधार पर चिन्तन करता है, वह आर्ष होता है।[११] इस प्रकार यास्क की दृष्टि में तर्क से सुविचारित अर्थ ही ऋषि है और इसी कारण निरुक्तवेत्ता के द्वारा सुविचारित अर्थ `आर्ष' कहलाता है। आचार्य के कथन का अभिप्राय यह है कि प्राचीनकाल में ऋषिगण केवल अपनी मनीषा के आधार पर मन्त्रार्थ की कल्पना नहीं करते थे, प्रत्युत उनके मन्त्रार्थ का आधार तर्क हुआ करता था।[१२]

उपर्युक्त अवतरण में सबसे महत्त्वपूर्ण बात आचार्य यास्क ने यह कही है कि तर्क ही ऋषि है, इसलिये तर्क के द्वारा प्रत्यक्ष किया गया मन्त्रार्थ ऋषिकृत माना जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में आचार्य यास्क तर्क को ऋषि मान रहे हैं और पीछे उन्होंने ऋषि पद का निर्वचन `**ऋषिर्दर्शनात्**' किया है।[१३] इन दोनों परिभाषाओं में किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है। इसमें श्रेणी का भेद है, प्रथम श्रेणी द्रष्टा की है, जो योगी समाधि के माध्यम से अर्थ का प्रत्यक्ष कर लेता है, वह सबसे श्रेष्ठ है। द्वितीय श्रेणी जो योगी नहीं है,

---

९. निरु.१३.१२

१०. निरु.१३.१२ न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा।

११. निरु०,१३.१२ मनुष्या वा ऋषिषूक्तामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूऽहम्। तस्माद्यदेवं किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति

१२. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,१००४.

१३. निरु०,२.११.

परन्तु वह अनूचान है अर्थात् वेदों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कर चुका है, ऐसे विद्वान् को तर्क का आश्रय लेकर मन्त्रार्थ करना चाहिये, उसके लिये तर्क ही ऋषि है।

जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि जो मन्त्रद्रष्टा है, उसके लिये तर्क को अपरिहार्य क्यों नहीं बताया? इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष किये हुए के लिये तर्क, अनुमान या कल्पना की आवश्यकता नहीं होती। ऋतम्भरा-प्रज्ञा से सम्पन्न योगी के लिये मन्त्रार्थ उसी प्रकार प्रत्यक्ष है कि जिस प्रकार के हाथ में रक्खे आँवले को जानने में अनुमान या कल्पना की भूमिका नहीं होती। इसलिये उसके लिये तर्क की उपयोगिता नहीं है।

यास्क के तर्क ही ऋषि है, इस वक्तव्य के आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि मन्त्रार्थ युक्तिसङ्गत होना चाहिये, उसका तर्क के साथ विरोध नहीं होना चाहिये अर्थात् मन्त्रार्थ प्रकृति-नियमों के विपरीत नहीं हो सकता।

तर्क का दुरुपयोग भी हो सकता है, तर्क दुधारू तलवार की तरह है, जो स्वपक्ष और परपक्ष किसी को भी काट सकती है, उचित और अनुचित दोनों का तर्क के द्वारा उन्मूलन किया जा सकता है। इस सम्भावना का निराकरण करने के लिये आचार्य यास्क कहते हैं कि यह तर्करूपी विद्या श्रुतिरूप, मतिरूप और बुद्धिरूप अर्थात् श्रवण, मनन और बुद्धि से जानने योग्य है। इस तर्क-विद्या का तपस्या के द्वारा पार पाना चाहिये[१४] अर्थात् निरुक्त का अध्ययन ही तप है, उस तपस्या से मन्त्रार्थ तक पहुँचा जा सकता है। उसका पार पाने में यह तपस्या उपायभूत है, इसलिये मन्त्रार्थ के समय अन्य साधनों को गौण समझना चाहिये।[१५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मन्त्रार्थ-कर्त्ता की प्रथम योग्यता उसका भूयोविद्य अर्थात् अनेक विद्याओं का जानने वाला होना चाहिये। (ख) द्वितीय योग्यता यह है कि उसके मन्त्रार्थ-चिन्तन का आधार श्रुति और उसके अनुकूल तर्क होना चाहिये। (ग) तीसरी सावधानी प्रकरण छोड़कर मन्त्रार्थ नहीं करना चाहिये। यास्क ने अपने शास्त्र में मन्त्रार्थ करने वाले के लिये ये तीन कसौटियाँ प्रदान की हैं। यदि भाष्यकार इसका अनुसरण करते हैं तो वे पथभ्रष्ट होने से बच सकते हैं।

आचार्य दुर्ग

निरुक्त के आधार पर मन्त्रार्थ करने की योग्यता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य दुर्ग कहते हैं कि जो ऋषि और तपस्वी नहीं है, उसे मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त आचार्य-परम्परा से ज्ञान प्राप्त करने वालों में बहुश्रुत भी मन्त्रार्थ के परिज्ञान में श्रेष्ठ होता है, क्योंकि सभी विद्याओं का

---

१४. निरु०,१३.१३ सेयं विद्या श्रुतिमतिबुद्धिस्तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यम्।
१५. निरु०,१३.१३.

अधिष्ठान होने के कारण यह मन्त्रार्थ के विषय व्यापक हैं तथा लोकव्यवहार के कारण वह और अधिक विस्तार को प्राप्त है, इसलिये जो बहुश्रुत है, वही निर्बाध और सन्देह से मुक्त होकर मन्त्रार्थ कर सकता है।[१६]

इस प्रकार दुर्ग के अनुसार मन्त्रार्थ करने की सामर्थ्य तीन प्रकार के व्यक्तियों में होती है :-**प्रथम ऋषि**-जो ऋषि है, वह मन्त्रार्थ द्रष्टा होने के कारण मन्त्रार्थ करने में सक्षम है।

द्वितीय तपस्वी-जो ऋषि नहीं है, परन्तु तपस्वी है, वह अपनी तपस्या के बल से मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष कर सकता है।

तृतीय भूयोविद्-जो न तो ऋषि है और न तपस्वी, लेकिन जो भूयोविद् (अनेकानेक शास्त्रों तथा लोकव्यवहारों का ज्ञाता) है, वह भी मन्त्रार्थ कर सकता है। आचार्य परम्परा से उपदेश के द्वारा विद्या को प्राप्त करने वाला असाक्षात्कृतधर्मा भी लोकव्यवहार में निपुणता को प्राप्त करके मन्त्रार्थ कर सकता है, यह दुर्ग का आशय है।

आचार्य वररुचि

आचार्य वररुचि मन्त्रार्थ के लिये प्रथम उपकरण निरुक्त को बताते हुए कहते हैं कि मन्त्र का विवरण (अर्थ) निरुक्त के विना नहीं हो सकता, ऐसा वृद्धों का अनुशासन है।[१७] निरुक्त-प्रक्रिया का अवलम्बन करके ही मन्त्रार्थ करना चाहिये तथा निरुक्त के अन्त में यास्क कहते हैं कि जिस-जिस देवता को कहता है, उस-उस देवता के साथ ताद्भाव्य (तद्रूपता) का अनुभव होता है।[१८] वेदार्थ करते समय बहुश्रुत का अन्वेषण करना चाहिये। महाभारतकार महर्षि व्यास का वचन है कि अल्पश्रुत से वेद भी डरता है, क्योंकि अल्पश्रुत अर्थ का अनर्थ कर सकता है।[१९]

उपर्युक्त विवेचन में वररुचि ने निरुक्त और बहुश्रुतता को मन्त्रार्थ का आधार बताया है। यह मार्ग यास्क द्वारा प्रतिपादित है, लेकिन वररुचि उपर्युक्त के अतिरिक्त ऋषि, देवता और विनियोग इन तीन को और मन्त्रार्थ के उपकरण मानते हैं-

---

१६. निरु०,१३.१२. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,१००३.

१७. निरुक्तसमुच्चय, प्रथमकल्प, मन्त्र-१ अथेदानीं मन्दप्रज्ञावबोधनार्थं मन्त्रविवरणं (क्रियते, तच्च न) निरुक्तमन्तेरण सम्भवति। यत आह- 'अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते' इति। 'नानिरुक्तार्थवित् कश्चिन्मन्त्रं निर्वक्तुमर्हति' इति च वृद्धानुशासनम्।

१८.निरुक्तसमुच्चय, प्रथमकल्प, मन्त्र-१ निरुक्तप्रक्रियानुरोधेनैव मन्त्रा निर्वक्तव्याः। मन्त्रार्थज्ञानस्य च शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्- योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा इति। शास्त्रान्ते च- यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति इति च।

१९.निरुक्तसमुच्चय, प्रथमकल्प, मन्त्र-१ वेदपदार्थविवरणे च बाहुश्रुत्यमन्वेष्टव्यम्- बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति इति व्यासवचनम्।

वररुचि के अनुसार सर्वप्रथम ऋषि का कथन करना चाहिये, तदुपरान्त देवता का उल्लेख करे। **`ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्'** (यजु.१३.३) मन्त्र का ऋषि नकुल और आदित्य देवता है। अन्त में धर्मादि सूत्रों के अनुसार उसका विनियोग करे।[२०] वररुचि कहते हैं कि मन्त्रव्याख्यान के प्रारम्भ में सर्वप्रथम ऋषि का कथन करना चाहिये, आचार्य यास्क ने **`मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्ते'**[२१] इस प्रकरण में ऋषि का कथन किया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वररुचि के मत में भूयोविद्य, निरुक्त के साथ मन्त्रार्थकर्त्ता को ऋषि, देवता और विनियोग को अवश्य जानना चाहिये। इन उपकरणों से सम्पन्न विद्वान् मन्त्रार्थ कर सकता है।

कात्यायन

कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में ऋषि, देवता और छन्द का सम्बन्ध प्रतिपादित करते हुए कहा है-**'अर्थेप्सव ऋषयो देवताश्छन्दोभिरभ्यधावन्'**[२२] उक्त पङ्क्ति का अर्थ करते हुए षड्गुरुशिष्य कहते हैं कि जिसकी कामना की जाती है, वह अर्थ अर्थात् फल (अन्न, पुत्र से लेकर मोक्ष पर्यन्त) है। अर्थ को अपने अधीन करने के लिये मधुच्छन्द से लेकर संवनन पर्यन्त ऋषि सूक्त और हविर्भागिनी (गायत्री आदि उपायों) छन्दों से बँधे हुए मन्त्रों के द्वारा देवताओं की ओर दौड़े अर्थात् श्रद्धा से उनकी उपासना की। अर्थ की प्राप्ति में केवल यही उपाय है, ऐसे वे दृढसङ्कल्प वाले ऋषि थे। जैसा आप देवों के लिये करेंगे, देव भी आपके लिये वैसा ही करेंगे। मन्त्र कहता है-**य इन्द्राय सुनवाम**[२३] जो इन्द्र के लिये सवन करता है, उसके लिये **भद्रा इन्द्रस्य रातयः**[२४] इन्द्र के कल्याण करने वाले अनुदान प्राप्त होते हैं।[२५]

उपर्युक्त कथन का सार यह है कि ऋषि, देवता और छन्द इन तीनों की युति है, अर्थ करते समय इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

---

२०. निरुक्तसमुच्चय, प्रथमकल्प, मन्त्र-१ सर्वमन्त्रव्याख्याने प्रथममार्षकथनं कर्त्तव्यम्। नकुलो नाम ऋषिः। आदित्यो देवता (इति) शौनकर्षिदर्शनम्। यस्य वाक्यं स ऋषिः, या तेनोच्यते सा देवता इति। धर्मादिष्टवनेऽस्य विनियोगः। परोक्षक्रमोऽयं विनियोगः। परोक्षकृतोऽयं मन्त्रः प्रथमपुरुषयोगात्।

२१. निरु०६.२७

२२. ऋक्सर्वानुक्रमणी-२.७

२३. ऋ०४.२५.४

२४. ऋ०८.९२.१

२५. ऋक्सर्वानुक्रमणी, षड्गुरुशिष्य, वेदार्थदीपिका, २.७ 'अर्थ्यत इत्यर्थः। फलम् अन्नपुत्रादिमोक्षान्तम्। अर्थम् आत्माधीनं कर्तुमिच्छतां मधुच्छन्दःप्रभृतयः संवननान्ता ऋषयो देवताः सूक्तहविर्भागिनीश्छन्दोभिर्गायत्र्यादिभिरुपायभूतैस्तद्युक्तमन्त्रैर्वाऽभ्यधावन् श्रद्धयागच्छन्। अर्थस्य प्राप्तावयममेवोपाय इति दृढसङ्कल्पाः। यादृगिव वै देवेभ्यः करोति तादृगिवास्मै देवाः कुर्वन्ति।'

आर्षेयब्राह्मण

यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति। ..... तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्।[२६] जो ऋषि, छन्द, देवता और ब्राह्मण को विना जाने यज्ञ कराता अथवा पढ़ाता है, वह स्थाणु बनता है या फिर गर्त में जाता है या मरता है अथवा पापी हो जाता है। इसलिये इन चारों को प्रत्येक मन्त्र में जाने।

उपर्युक्त ब्राह्मण के कथन से विदित होता है कि मन्त्रार्थ के लिये ऋषि, छन्द, देवता और ब्राह्मण को जानना अपरिहार्य है।

आचार्य वेङ्कटमाधव

आचार्य वेङ्कटमाधव ऋग्वेद के प्रथम अष्टक के प्रथम अध्याय की भूमिका में मन्त्रार्थ के मूल सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए कहते हैं-

लोकसिद्धं विभक्त्यर्थमनुक्तं तत्र न त्यजेत्।
निरुक्तमग्रतः कुर्याद् यावत्प्राणं तथा स्वरम्॥
पदानि पूर्वं जानीयात् पदस्वरमनन्तरम्।
उपसर्गान् क्रियाशब्दैः संयोज्यार्थं प्रदर्शयेत्॥[२७]

यदि लोकसिद्ध पदार्थ के अनुरूप पदविभाग शास्त्र से अनुमोदित न हो तो भी उसका परित्याग नहीं करना चाहिये। कहने का आशय यह है कि लोकप्रचलित अर्थ के अनुरूप पदविभाग करके अर्थ की सङ्गति कर लेनी चाहिये।

वेङ्कटमाधव का द्वितीय बिन्दु यह है कि निरुक्त को आगे रक्खे अर्थात् अर्थ करते समय निरुक्त के सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

वेङ्कटमाधव की दृष्टि में मन्त्रार्थ के लिये तीसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु है-स्वर। प्रायः सभी भाष्यकारों ने अर्थ करते हुए व्यवहार में स्वर की उपेक्षा की है। स्वर को ध्यान में रखकर वे प्रायः अर्थ नहीं करते। यहाँ तक यास्क भी इसके अपवाद नहीं हैं। यास्क ने निर्वचन के नियम प्रतिपादित करते समय केवल अर्थ की प्रधानता के आधार पर निर्वचन करने के लिये कहा है-**'अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत। केनचिद् वृत्तिसामान्येन। अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। नत्वेवं न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत।'**[२८] लेकिन जिस प्रकार संस्कार (व्याकरण) का निरादर करने के लिये आह्वान किया है, उस प्रकार वे स्वर का निरादर करने के लिये नहीं कहते, परन्तु निर्वचन के

२६. आर्षेयब्राह्मण १.१
२७. प्रथमाष्टक, प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक कारिकाएँ।
२८. निरु०२.१

सिद्धान्तों में वे एक बार भी स्वर की उपयोगिता स्वीकार नहीं करते हैं। यद्यपि निरुक्त के प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि निरुक्त के विना अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है और विना अर्थ के स्वर तथा संस्कार को नहीं जान सकते।[२९] यद्यपि वे स्वर के महत्त्व को रेखाङ्कित करते हैं- **'तीव्रार्थतरमुदात्तम् । अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्।'**[३०] परन्तु उनके शास्त्र में जो स्थान अर्थ को प्राप्त है, वह स्वर को नहीं। यत्किञ्चित् महत्त्व स्वीकार करते हुए भी उसे वह स्थान नहीं दिया है, जिसके लिये स्वर प्रसिद्ध है। इस प्रकार निरुक्तकार ने प्रकारान्तर से स्वर को स्वीकार तो किया है, लेकिन प्रमुख रूप से उनका ध्यान केवल अर्थ पर है। परन्तु वेङ्कटमाधव यास्क के दिखाये मार्ग से हटकर स्वर की प्रधानता स्वीकार करते हैं और कहते हैं-**'यावत्प्राणं तथा स्वरम्'**[३१] जैसे प्राण हैं वैसा ही स्वर है। जीवन के लिये जो महत्त्व प्राण का है, वही मन्त्रार्थ करने के लिये स्वर का।

वेङ्कटमाधव कहते हैं-**'पदानि पूर्वं जानीयात् पदस्वरमनन्तरम्।'**[३२] कि प्रथम पदों को जानना चाहिये, उसके पश्चात् पद के स्वर को। कहने का आशय यह है कि सर्वप्रथम मन्त्र के पाद के पदों को जाने, तदनन्तर पद के स्वर को देखना चाहिये।

स्वर के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए प्रथम अष्टक के अन्तिम अध्याय के प्रारम्भ में वेङ्कटमाधव कहते हैं-

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति॥[३३]

'जैसे दीपक के सहारे अन्धकार में चलता हुआ व्यक्ति कहीं भी स्खलित नहीं होता, उसी प्रकार स्वर के आधार पर अर्थ करने पर मन्त्रार्थ स्पष्ट हो जाता है।'

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में कहा जा सकता है कि वेङ्कट की दृष्टि में मन्त्रार्थ करने के लिये स्वर की नितान्त उपयोगिता है, इसकी उपेक्षा करके मन्त्रार्थ नहीं करना चाहिये। यदि स्वर केवल दिखाने के लिये होते, जैसा कि आजकल के विद्वज्जन स्वीकार करते हैं, तब पाणिनि को स्वर के आधार पर इतना विस्तृत व्याकरण का भवन निर्मित करने की आवश्यकता ही न होती। पाणिनि-व्याकरण के जानकार यह मानते हैं कि स्वरसिद्धि के लिये पाणिनि ने जो प्रयास किया है, यदि वह न करता तो न्यूनातिन्यून ४० प्रतिशत व्याकरण और सङ्क्षिप्त किया जा सकता था और फिर महर्षि पतञ्जलि को `**रक्षार्थं**

---

२९ .निरु०१.१५ अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशस्तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।

३०. निरु०४.२५

३१. प्रथमाष्टक, प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक कारिका।

३२. प्रथमाष्टक, प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक कारिका।

३३. प्रथमाष्टक, अष्टमाध्याय की भूमिकात्मक कारिका।

वेदानामध्येयं व्याकरणम्'[३४] कहकर व्याकरण की उपयोगिता प्रतिपादित करने की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये हमारी पूरी परम्परा व्याकरण गठन के मूल में स्वर के महत्त्व को स्वीकार करती है और हमें मन्त्रार्थ करते समय स्वर की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

मन्त्रार्थ में ऋषि की भूमिका

वेद के प्रत्येक मन्त्र के साथ देवता की तरह ऋषि सम्बद्ध रहता है। जो ऋषि ऋत के नियमों को प्रत्यक्ष कर सकने की सामर्थ्य रखता है, क्या उसकी मन्त्रार्थ की सङ्गति लगाते समय कोई भूमिका है ? क्या ऋषि को एक तरफ करके मन्त्रार्थ किया जा सकता है ? आचार्य वेङ्कटमाधव उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं ;-

अर्थज्ञानं ऋषिज्ञानं भूयिष्ठमुपकारकम्।
वक्ष्यन्त ऋषयस्तस्मात् स्वरूपस्थास्तु देवताः॥[३५]

'अर्थ का ज्ञान करने में ऋषि का ज्ञान बहुत अधिक उपकारक है। इस कारण ऋषि मन्त्र के साथ कहे जाते हैं, जबकि देवता स्वरूप से उपकारक हैं।'

आचार्य वेङ्कटमाधव अर्थ करने में ऋषि और देवता दोनों की दृष्टि से विचार करते हुए कहते हैं कि जहाँ देवता स्वरूप से अर्थ को प्रभावित करते हैं, वहीं ऋषि का ज्ञान अर्थज्ञान में बहुत सहयोगी है। लेकिन किस प्रकार ऋषि मन्त्रार्थ में सहयोगी या उपयोगी है ? इस तथ्य को स्पष्ट नहीं करते हैं। उक्त वक्तव्य से ऋषि के सहयोगी-रूप को जान पाना सम्भव प्रतीत नहीं होता है। तथापि यह कहा जा सकता है कि प्राचीन परम्परा अर्थ की दृष्टि से ऋषि के महत्त्व को स्वीकार करती है।

छन्द का महत्त्व

जो साहित्य जितना प्राचीन है, वह उतना ही अधिक छन्दोबद्ध होगा, यह एक सामान्य सिद्धान्त है। वेद विश्व का प्राचीनतम ज्ञान है, वह भी इसका अपवाद नहीं है। आचार्य वेङ्कटमाधव मन्त्र में छन्द की उपयोगिता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं ;-

पादावसानविज्ञानं छन्दोज्ञानेन सिध्यति।
पारुच्छेपादिषु ज्ञेयमतश्छन्दश्च यत्नतः॥[३६]

'पादसमाप्ति का विज्ञान छन्द के ज्ञान से सिद्ध होता है, इसलिये परुच्छेपदृष्ट मन्त्रों में छन्द को प्रयत्न- पूर्वक जानना चाहिये।'

---

३४. पतञ्जलि, महाभाष्य, प्रथमाह्निक।
३५. प्रथमाष्टक, प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक कारिका।
३६. प्रथमाष्टक, प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक कारिका।

जहाँ आचार्य यास्क `**छन्दांसि छादनात्**'[३७] मृत्यु से भयभीत होकर देवताओं ने अपने को छन्द से आच्छादित किया,[३८] यह कहकर शान्त हो जाते हैं, वहीं वेङ्कटमाधव छन्द की उपयोगिता पादसमाप्ति की सूचना में मान रहे हैं।

यजुर्वेद और ऋग्वेद में अर्थनिश्चय का सिद्धान्त

यजुर्वेद और ऋग्वेद का मन्त्रों का अर्थ करते समय एक ही सिद्धान्त काम करता है, या फिर भिन्न-भिन्न। इस विषय में वेङ्कटमाधव का मत है-

विनियोगपरिज्ञानाद् यजुषामर्थनिश्चयः।
इतिहासैर्ऋगर्थानां बहुब्राह्मणदर्शितैः॥[३९]

'यजुर्वेद के मन्त्रों के अर्थ का निश्चय विनियोग से होता है, जबकि ऋग्वेद के मन्त्रों के अर्थ का निर्णय ब्राह्मणों के द्वारा अनेकशः उपस्थापित किये गये इतिहास से होता है।'

उपर्युक्त विवेचन से वेङ्कट के मत में यजुर्वेद के मन्त्रार्थ का निर्धारण विनियोग को ध्यान में रखकर करना चाहिये अर्थात् यजुर्वेद के मन्त्रार्थ विनियोगाश्रित हैं, जबकि ऋग्वेद के मन्त्रों का अर्थ इतिहास के आधार पर करना चाहिये। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि वेङ्कटमाधव को कौनसा इतिहास अभिप्रेत है? क्योंकि ब्राह्मणों में लौकिक, प्राकृतिक तथा रूपात्मक सभी प्रकार का इतिहास देखने को मिल जाता है। इस दृष्टि से वेङ्कट ने कुछ भी नहीं कहा है, परन्तु यदि उसके भाष्य का अवलोकन करें तो कहा जा सकता है कि उनके भाष्य से लौकिक इतिहास की स्पष्ट गन्ध आती है। यदि उस इतिहास को अर्थ का आधार बनाया जायेगा तो क्या उससे वेद का हित होगा ? यह विचारणीय है। कम से कम परम्परा इतिहास को स्वीकार करते हुए भी वेद में उसके अस्तित्व को नकारती आ रही है।

आर्षगोत्रीय ऋषि के ज्ञान का फल

आचार्य वेङ्कटमाधव आर्षगोत्र ऋषियों के विषय में कहते हैं-

ऋषिनामार्षगोत्राणां ज्ञानमायुष्यमुच्यते।
पुत्र्यं पुण्यं यशस्यं च स्वर्ग्यं धन्यममित्रहम्॥२॥
मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतविद् न यः।
याजनाध्यापनादेति छन्दसां यातयामताम्॥५॥

---

३७. निरु०७.१२

३८. स्कन्दमहेश्वर, निरु०७.१२ छदिर्व्याप्त्यर्थः। न ह्यव्याप्तछन्दसा मिताक्षरः कश्चिन्मन्त्रोऽस्ति। आवरणार्थस्यैव वा ब्राह्मणोक्तनिर्वचनम् 'यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' (तु०श०ब्रा०८.५.२.१; छा०उप०१.४.२) इति विज्ञायते।

३९. प्रथमाष्टक, प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक कारिका।

मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतवित् तु यः।
याजनाध्यापनाभ्यां स श्रेय एवाधिगच्छति॥७॥[४०]

'आर्ष गोत्र वाले ऋषियों का ज्ञान पुत्र, पुण्य, यश, स्वर्ग, धनप्रद और अमित्र का नाश करने वाला होता है। जो मन्त्रों के ब्राह्मण, आर्ष गोत्र वाले ऋषि, छन्द और देवता को नहीं जानता और विना जाने यजन और अध्यापन कर्म करता है, वह वेद के यातयामता (अपरिपक्व या अपूर्ण ज्ञान) को प्राप्त होता है। लेकिन जो मन्त्रों के ब्राह्मण, आर्ष गोत्र वाले ऋषि, छन्द और देवता को जानता है, वह श्रेय को प्राप्त उपलब्ध होता है।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेङ्कट की दृष्टि में देवता और छन्द के समान न केवल ऋषि अपितु उनके गोत्र का ज्ञान भी अपरिहार्य है। मन्त्रार्थ की दृष्टि से ऋषिज्ञान की उपयोगिता वेङ्कट स्वीकार करते हैं।

आचार्य यास्क ने भी मन्त्रद्रष्टा की अर्हता ऋषित्व को माना है, लेकिन यह ऋषित्व कैसे प्राप्त होता? है, उसका वर्णन करते हुए वेंकट कहते हैं-

मनुष्यत्वे मन्त्रकृत ऋषयः परिकीर्तिताः।
आर्षेयवरणं तेषां तथा च ब्राह्मणं शृणु ॥२॥
'न देवैर्न मनुष्यैरार्षेयं वृणीत ऋषिभिरेवायं वृणीत' (आप०श्रौ०२४.५.३)
न मन्त्रदर्शनात् पूर्वं ऋषित्वं प्रतिपद्यत॥३॥[४१]

'मनुष्य-जाति में मन्त्र का दर्शन करने वाले ऋषि नाम से अभिहित होते हैं। इस विषय में ब्राह्मण का मत है कि न देव और न मनुष्य आर्षेय (मन्त्रार्थ की योग्यता) का वरण करते हैं, लेकिन जो ऋषि होता है, वही मन्त्रार्थ की योग्यता को उपलब्ध होता है। इसलिये मन्त्रदर्शन से पहले कोई मनुष्य ऋषित्व को उपलब्ध नहीं होता है।'

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि मन्त्रार्थ की योग्यता न देवों (विद्वानों) में है और न मनुष्यों में। जिसने मन्त्र का दर्शन कर लिया है, वही ऋषि है और जो ऋषि है, वही मन्त्रार्थ कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि वेङ्कट की दृष्टि में मन्त्रार्थ के उपकरण निम्न हैं- १. लोकप्रचलित अर्थ के अनुरूप पद का विग्रह, २. मन्त्रार्थ में निरुक्त की मुख्यता, ३. स्वर को ध्यान में रखकर पदार्थ का निश्चय, ४. मन्त्रार्थ में ऋषि का ज्ञान सहयोगी, ५. पादसमाप्ति का विज्ञान छन्द पर

४०. पञ्चमाष्टक, प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक कारिकाएँ।
४१. पञ्चमाष्टक, सप्तमाध्याय की भूमिकात्मक कारिकाएँ।

आश्रित, इससे मन्त्रार्थ की पूर्णता का बोध होता है। साथ ही वह यह कहते हैं कि अध्यापन या यजन करने वाले को ऋषि, छन्द और देवता का ज्ञान अवश्य होना चाहिये।

आत्मानन्द

आचार्य आत्मानन्द ने ऋग्वेद के अस्यवामीयसूक्त पर भाष्य किया है। विनियोग के विषय में एक धारणा चली आ रही है कि कल्प-साहित्य के द्वारा प्रतिपादित विनियोग नित्य है अर्थात् मन्त्र का विनियोग सूत्र-साहित्य के द्वारा निर्धारित विषय में ही किया जा सकता है। आत्मानन्द ऐसे प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने इस विषय में अपना वैमत्य प्रस्तुत किया है।

विनियोग

कल्पसाहित्य की मुख्य उपयोगिता विनियोग पर आश्रित है। निरुक्त उत्तरवर्ती मन्त्रार्थ की परम्परा विनियोग को स्वीकार करती रही है। इस विषय में प्राचीन भाष्यकारों में स्वामी आत्मानन्द और आधुनिक युग के भाष्यकार दयानन्द और उसके बाद के सभी भाष्यकार याज्ञिक विनियोग को नकारते रहे हैं। हम यहाँ आचार्य आत्मानन्द के मत को उपस्थापित कर रहे हैं-

अस्यवामीय सूक्त के १-४१ पर्यन्त मन्त्र विश्वेदेवा देवताक माने जाते हैं, इस पर आचार्य आत्मानन्द को आपत्ति है। उनका कथन है कि विश्वेदेवा देवताओं के प्रकरण में लिङ्ग के आधार पर देवता निर्धारण करने की परम्परा है, इस विषय में पूर्वप्रकरण में विस्तार से विवेचन किया गया है।

विनियोग के प्रकरण को उठाते हुए आचार्य आत्मानन्द कहते हैं कि `**विनियोजको वेदो नः प्रमाणम्**'[४२] कि विनियोजक वेद हमारे लिये प्रमाण है। कहने का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि विनियोग करने का मूल अधिकार वेद का है, वही मनुष्य के आचार का नियमन करता है। इसलिये विनियोग का आधार और उसके लिये प्रमाणस्वरूप यदि कुछ है तो वह वेद ही है। कहने का आशय यह है कि विनियोग के विषय में मन्त्र या मन्त्रार्थ ही प्रमाण है।

आत्मानन्द स्पष्टरूप से यह कहना चाहते हैं कि वेद के विनियोग का नियमन करने वाले शास्त्र वेद के सहयोगी हो सकते हैं, मान्य भी हो सकते हैं, लेकिन उनकी एक सीमा है, वे जो कह रहे हैं, वही अन्तिम नहीं होगा। इस विषय में वेद ही नियामक है। वेद जिस तथ्य को स्पष्ट रूप से कह रहा है, उसका विनियोगशास्त्र ने किसी भिन्न सन्दर्भ में विनियोग कर दिया, वह उचित नहीं है। इस प्रकार विनियोग की परम्परा पर आचार्य आत्मानन्द ने प्रश्नचिह्न लगा दिया है। यह उनका कथन सर्वथा समीचीन भी है, देवता और प्रकरण निश्चित कर देने से वेद का वेदत्व सीमित होकर रह जायेगा। यदि वह ईश्वरीय ज्ञान है, तब कोई एक व्यक्ति कैसे यह निश्चय कर सकता है कि अमुक मन्त्र का देवता और

४२. अस्यवामीयभाष्य, १.१६४.१ से पूर्व।

विनियोग उसीका प्रकार होगा, जैसा उसने निर्धारित कर दिया है? आचार्य आत्मानन्द ने प्रश्नचिह्न लगाकर भाष्यकारों के लिये एक नये द्वार का उद्घाटन किया है, जिससे होकर वेद के नूतन अर्थ प्रकट किये जा सकते हैं। विनियोग एक अच्छे उद्देश्य से प्रारम्भ किया गया प्रयास था, परन्तु उसको अन्तिम मान लेना, यह उसके सदुद्देश्य को खण्डित कर रहा था, जिस पर विराम लगाने के लिये आचार्य आत्मानन्द मुखर हुए हैं। सम्भवतः, प्राचीन और मध्य भाष्यकारों के इतिहास में इस विचार को जन्म देने वाले प्रथम और अन्तिम आचार्य हैं। इस क्रान्तिकारी उद्घोष के लिये आत्मानन्द अभिनन्दनीय हैं।

आचार्य सायण

मन्त्रार्थ करते समय ऋषि, छन्द, देवता और स्वर के माहात्म्य को प्रतिपादित करते हुए आचार्य सायण कहते हैं-

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद् वापि पापीयाञ्जायते तु सः॥[४३]

ऋषि, छन्द, देवता और इनके योग को विना जाने अध्यापन या जप करने वाला पापी हो जाता है।

ऋषिच्छन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते॥[४४]

ऋषि, छन्द, देवता, ब्राह्मण का अर्थ, स्वर आदि भी विना जाने प्रयुक्त करने वाला मन्त्रकण्टक कहा जाता है।

सायण कहते हैं कि छन्दोऽनुक्रमणिका में यद्यपि `**अग्निम्**' इत्यादि सूक्त का छन्द प्रतिपादित नहीं किया गया है, तथापि परिभाषा दी गयी है-'**आदौ गायत्रं प्राग्घिरण्यस्तूपात्**' (अनु.१२.१४) । जिन मन्त्रों का हिरण्यस्तूप ऋषि कहा जाएगा, उससे प्राचीन मन्त्रों में सामान्य-रूप से गायत्र छन्द है।[४५] कहने का आशय यह है कि हिरण्यस्तूप ऋषि से पूर्व के मन्त्र का छन्द गायत्र है, जबकि कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में `**प्रथमं छन्दस्त्रिपदा गायत्री**'[४६] कहा है।

छन्द का प्रयोजन बताते हुए सायण कहते हैं कि आच्छादक होने से पापसम्बन्ध का वारण करता है, इसलिये इसे छन्द कहा जाता है। यह तथ्य अरण्यकाण्ड में पठित है-'**छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात् कर्मणः**' (ऐ.आ.२.५)। अथवा यज्ञ के लिये चयन की जाती हुई अग्नि के सन्ताप का आच्छादक

---

४३. सायण, ऋ०१.१.१ मन्त्र की भूमिका में।

४४. सायण, ऋ०१.१.१ मन्त्र की भूमिका में।

४५. सायणभाष्य, ऋ०१.१.१ की भूमिका-'अग्निमित्यादिसूक्तस्य छन्दोऽनुक्रमणिकायां यद्यप्यत्र नोक्तं तथापि परिभाषायामेवमुक्तम्। 'आदौ गायत्रं प्राग्घिरण्यस्तूपात्' (अनु.१२.१४) इति। हिरण्यस्तूप ऋषिर्येषां मन्त्राणां वक्ष्यते ततः प्राचीनेषु मन्त्रेषु सामान्येन गायत्रं छन्द इत्यर्थः।'

४६. सर्वानुक्रमणी ४.१

होने से यह छन्द है। तैत्तिरीय कहते हैं-**'प्रजापतिरग्निमचिनुत स क्षुरपविर्भूत्वाऽतिष्ठत् तं देवा बिभ्यतो नोपायन्ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्'** (तै.सं.५.६.६.१)। अथवा अपमृत्यु को वारण करने के कारण यह आच्छादित करता है, इसलिये यह छन्द है। यह तथ्य भी छान्दोग्योपनिषद् में दिया गया है-**'देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरात्मानमच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्'** (छा.उ.१.४.२)।[४७] इस प्रकार सायण की दृष्टि में छन्द का प्रयोजन दुरित से रक्षा करना है। परन्तु यहाँ यह अस्पष्ट बना रहता है कि मन्त्रार्थ में छन्द की भूमिका क्या है ? क्या छन्द के आधार पर अर्थ को जानने में सहायता मिलती है। यदि यह कहते कि अमुक छन्द के होने पर प्रायः अमुक देवता होता है, तब भी कुछ सहायक माना जा सकता था। अभी तो मात्र इतना कह सकते हैं कि लौकिक काव्य में अर्थ की दृष्टि से जो भूमिका छन्द की होती है, वही वैदिकसाहित्य में भी है। छन्द का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त आचार्य सायण देवता का स्वरूप निरूपित करते हुए कहते हैं कि द्योतनार्थक दीव्यति धातु से निष्पन्न देव शब्द के विषय में यह कहा जाता है-**'दिवा वै नोऽभूदिति तद्देवानां देवत्वम्'** स्वर्ग हमारा हो, यही देवों का देवत्व है। इसलिये कहा जाता है-**'दीव्यतीति देवः'** द्योतित होते है, इसलिये ये देव हैं अर्थात् ये मन्त्र से द्योतित होते हैं। प्रथमसूक्त में स्तूयमान होने से अग्निदेवता है।[४८]

सायण द्वारा प्रस्तुत ऋषि, देवता, छन्द आदि विषय का प्रतिपादन करने वाले उपर्युक्त श्लोक किसके हैं ? यह तो अज्ञात है, परन्तु इससे यह विदित होता है कि मन्त्र का अध्ययन या जप करने से पूर्व ऋषि, छन्द और देवता का ज्ञान आवश्यक है। यहाँ सायण ने मन्त्रार्थ या अध्ययन में ऋषि, छन्द और देवता की भूमिका को बहुत स्पष्ट नहीं किया है। देवता की उपयोगिता निरुक्तादि के माध्यम से स्पष्ट हो जाती है, परन्तु ऋषि और छन्द किस प्रकार उपकारक हैं ? यह अस्पष्ट ही बना रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब माहात्म्य का वर्णन करने के लिये कहा गया है। अन्यथा सायण उसके महत्त्व को अवश्य प्रतिपादित करता।

स्वामी दयानन्द सरस्वती मन्त्र के साथ ऋषि, देवता और छन्द के उल्लेख किये जाने का कारण स्पष्ट करते हुए कहते हैं-'जिस जिस मन्त्र का अर्थ, जिस जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस-उस का

---

४७. सायणभाष्य, ऋ०१.१.१ की भूमिका-'पुरुषस्य पापसम्बन्धं वारयितुमाच्छादकत्वाच्छन्द इत्युच्यते। तच्चारण्यकाण्डे समाम्नायते-`छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात् कर्मणः' (ऐ.आ.२.५) इति। चीयमानाग्निसन्तापस्याच्छादकत्वाच्छन्दः। तच्च तैत्तिरीया आमनन्ति-`प्रजापतिरग्निमचिनुत स क्षुरपविर्भूत्वाऽतिष्ठत् तं देवा बिभ्यतो नोपायन्ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' (तै.सं.५.६.६.१) इति। यद्वा अपमृत्युं वारयितुमाच्छादयतीति छन्दः। तदपि छान्दोग्योपनिषद्यामाम्नातम्-'देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरात्मानमच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' (छा.उ.१.४.२) इति।'

४८. सायणभाष्य, ऋ०१.१.१ की भूमिका-'द्योतनार्थदीव्यतिधातुनिमित्तो देवशब्द इत्येतदाम्नायते-`दिवा वै नोऽभूदिति तद्देवानां देवत्वम्' इति। अतो दीव्यतीति देवः। मन्त्रेण द्योतते इत्यर्थः। अस्मिन् सूक्ते स्तूयमानत्वादग्निर्देवः।'

नाम उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है। इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है। और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया है, इसलिये विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं।[४९]

उपर्युक्त ऋषि, छन्द और देवता विषयक अध्ययन के आलोक में यह कहा जा सकता है कि सभी वेदभाष्यकार आचार्य ऋषि का महत्त्व स्वीकार करते हैं, परन्तु मन्त्रार्थ को निष्पन्न करने में उनकी क्या भूमिका है ? इस तथ्य का प्रतिपादन न सैद्धान्तिकरूप से और न प्रयोगात्मक-रूप से स्पष्ट कर सके हैं। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि आदि का ज्ञान कृतज्ञता के ज्ञापन हेतु किया गया है। मन्त्र को जानने का मार्ग स्वर, वर्ण, अक्षर, विनियोग और अर्थ...

आचार्य सायण मन्त्रार्थ वेदनविधि को अन्तिम रूप देता हुआ कहता है ;-

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च।
मन्त्रं जिज्ञसामानेन वेदितव्यं पदे पदे॥[५०]

मन्त्र को जानने की इच्छा रखने वाले को पग-पग पर स्वर, वर्ण, अक्षर, मात्रा, विनियोग और अर्थ इन सबको जानना चाहिये। आचार्य सायण का उपर्युक्त कथन युक्तिसङ्गत है और लगभग यास्क की भावना के अनुकूल है। आचार्य यास्क भी विनियोग को छोड़कर शेष मन्त्रगत स्वरादि का ज्ञान मन्त्रार्थ के लिये अपेक्षित मानते हैं।[५१] यदि हम ऋग्वेद के सायणपूर्व भाष्यकारों पर दृष्टिपात करें तो दुर्ग ही एकमात्र ऐसे भाष्यकार हैं जो मन्त्रार्थ से पूर्व विनियोग का सङ्केत करते हैं, फिर मध्यकाल में यह प्रथा लुप्त हो गयी और सायण ने पुनः पूरी शक्ति के साथ इसकी स्थापना की है। यद्यपि सूत्रग्रन्थों में यह परम्परा दृष्टिगोचर होती है, परन्तु किसी भाष्यकार ने इसे पूर्णतया आत्मसात् करके भाष्य में इसका प्रयोग किया हो, ऐसा करने वाले आचार्य सायण प्रथम हैं।

अर्थ के लिये विनियोग का विधान किया जाना अपेक्षित हो सकता है, परन्तु क्या विनियोग की उपेक्षा करके अर्थ नहीं किया जा सकता? क्या मन्त्र के समान विनियोग को ईश्वरीय मानकर उसके

---

४९. (ऋ०भा०भू० (प्रश्नोत्तरविषयः) 'येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोऽस्ति। तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति, सः सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्। एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादिछन्दोऽस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम्।'

५०. सायण, ऋ०१.१.१ मन्त्र की भूमिका में।

५१. निरु.२.१ `तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत। केनचिद् वृत्तिसामान्येन। अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। नत्वेवं न निर्ब्रूयात्।'

अनुरूप ही अर्थ करना चाहिये ? ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर दिये जाने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में यदि हम मन्त्रार्थ-परम्परा पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि यास्क, स्कन्द प्रभृति आचार्यों ने कहीं पर भी एक बार भी विनियोग को प्रस्तुत करते हुए मन्त्रार्थ नहीं किया है। स्कन्द ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर कहते हैं-**'ऋषिराद्यो मधुच्छन्दाः वैश्वामित्रः। ऋग्वेदस्याद्य ऋषिर्मधुच्छन्दा नाम। विश्वामित्रस्य पुत्रः। `आग्नेयं प्रथमं सूक्तं मधुच्छन्दस आदितः'** (बृह०२.१२६)। **मधुच्छन्दस ऋषेरादौ यत् सूक्तम् ऋग्वेदस्य प्रथमं तदग्निदैवतम्।'**[५२] मन्त्रार्थ करते समय स्कन्द ने ऋषि मधुच्छन्दा, देवता अग्नि-मात्र ये दो सूचनायें दी हैं। यहाँ तक कि छन्द का देना भी स्कन्द ने आवश्यक नहीं समझा है, विनियोग की बात बहुत दूर की है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि विनियोग मन्त्रार्थ करते समय दिया जाए, यह अपेक्षित हो सकता है और यज्ञ की दृष्टि से उपयोगी भी, परन्तु विना विनियोग जाने अर्थ नहीं किया जा सकता या नहीं किया जाना चाहिये, यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। अतः सायण ने अपने युग की धारा से प्रभावित होकर विनियोग का प्रयोग किया है, वह स्वागतयोग्य होते हुए भी उसका अधिक प्रयोग अर्थ की अभिव्यक्ति में बाधक सिद्ध हुआ है, यह देखते हुए विनियोग का आरोपण अर्थ पर किया जाना उचित प्रतीत नहीं होता है।

वेदविषयक उपर्युक्त विस्तृत विवेचन के उपरान्त सायण के सिद्धान्तपक्ष के विषय में कहा जा सकता है कि वह जिस युग में हुआ, वह युग यज्ञप्रधान था। वेद का अर्थ यज्ञसिद्धि ही माना जाता है। यह भी कह सकते हैं कि यज्ञनिष्पन्न करना ही वेद का एकमात्र प्रयोजन था। ब्राह्मणों के प्रभाव की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है कि यज्ञतन्त्र की स्थापना के ये प्रारम्भिक स्तम्भ हैं। ये सायण-युग की मनोवृत्ति के पोषक रहे हैं, यह कोई भी सामान्य अध्ययन के आधार पर कह सकता है। युग की विचारधारा का पोषक होने से सायण का उपक्रम बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता। उसने वही किया, जिसे युगधारा ने उसे सौंपा था। सायण को हम परम्परा के पोषक के रूप में देख सकते हैं। उससे युगधारा से ऊपर उठकर क्रान्तिकारी विचारों के बीजारोपण करने की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

दयानन्द

जब दयानन्द इस धरा पर अवतरित हुए, उस समय यह देश राजनैतिक-रूप से पराधीन, सामाजिक-रूप से कुरीतियों के चक्र में फँसा हुआ, धार्मिक-रूप से विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमणों से पददलित हो रहा था। विदेशी विद्वान् यद्यपि वेद का भाष्य कर रहे थे, परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य आर्यधर्म में सेंध लगाने के लिये मार्ग प्रशस्त करना अधिक था। जडता की स्थिति में पहुँच चुके समाज

५२. स्कन्दभाष्य, ऋ०१.१.१

के ठेकेदार न अपना हित और न देश का हित चिन्तन कर पा रहे थे। ऐसी विषम परिस्थिति में स्वामी दयानन्द ने सभी मोर्चों पर अपने और परायों को चुनौती देते हुए एक हुङ्कार भरी। इस हुङ्कार का मूल वेद था, परम्परा से चली आ रही वेदार्थ की मान्यताओं को स्वीकार करने पर भारतीय धर्म को बचा पाना सम्भव नहीं था, उस समय देव दयानन्द ने वेदार्थ के लिये एक सरणि चुनी, जो कम से कम केवल यज्ञपरक अर्थ की ओर नहीं ले जाती थी। आर्यसमाज के नियमों का गठन करते हुए उन्होंने वेद को सब सत्यविद्याओं का आगार घोषित किया और तदनुरूप वेदार्थ करने का प्रयास किया। इस काम को करने के लिये उन्होंने जिन उपकरणों का प्रयोग किया, उनका विवरण निम्न है-

यौगिकवाद

स्वामी दयानन्द सरस्वती मन्त्रार्थ के उपकरण के रूप में जिस सिद्धान्त का अवलम्बन किया, वह यौगिकवाद है। इसकी तुलना हम यास्क के आख्यातज सिद्धान्त से कर सकते हैं। आचार्य यास्क निरुक्त की उपयोगिता का प्रथम सूत्र बताते हुए कहते हैं-**'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** कि सभी नाम अर्थात् सञ्ज्ञा पद आख्यातज हैं। यह एक ऐसा सिद्धान्त है कि जिसने आचार्य दयानन्द की मन्त्रार्थ-शैली में व्यापकता और विविधता का समावेश किया है। इसीको आधार बनाकर पौराणिक विद्वान् भी पुराणों की व्याख्या में नवीनता और आध्यात्मिकता की प्रतिष्ठा कर पा रहे हैं। आचार्य दयानन्द का यह योगदान भारतीयसंस्कृति को नवीन ऊर्जा प्रदान करने वाला सिद्ध हो रहा है।

यद्यपि आख्यातज सिद्धान्त और यौगिकवाद में बहुत कुछ समानता है, फिर भी एक भेद यह है कि यौगिकवाद का आधार व्याकरण है, जबकि आख्यातज सिद्धान्त का आधार अर्थ है।[५३] जब भाष्यकार प्रकृति और प्रत्यय को देखकर मन्त्रार्थ में प्रवृत्त होता है, तब वह यौगिकवाद की श्रेणी में आता है, लेकिन जब भाष्यकार अर्थ को ध्यान में रखकर पद को विगृहीत करता है,[५४] तब उसकी व्याख्यानशैली आख्यातज हो जाती है। यह भेद होते हुए भी दोनों का उद्देश्य और लक्ष्य समान है।आचार्य दयानन्द की वेदभाष्य की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं, जो मन्त्रार्थ के क्षेत्र में विशेष स्थान रखती हैं, जैसे-विनियोग, देवता, विषय, ऋषि सम्बन्धी आदि अवधारणायें।

विनियोग

मन्त्रार्थ के अनुरूप मन्त्र का किसी कर्मकाण्ड में प्रयोग किया जाना विनियोग कहलाता है। शास्त्रीय भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि `**अन्यत्रोपात्तानां वाक्यानां यथास्थानमुपयोगो विनियोगः'** जो वाक्य वेद के किसी प्रकरण विशेष में पड़े हों, उनका प्रसङ्ग के अनुकूल उपयोग कर लेना विनियोग है।

---

५३. निरु.२.१ अर्थनित्यः परीक्षेत ।
५४. निरु.२.१ यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् ।

लेकिन एक ऐसा समय आया कि जब अर्थ से भिन्न कर्म में मन्त्र का विनियोग किया जाने लगा। जैसे- शनि के शमन के लिये **शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शं योर॒भिस्र॑वन्तु नः**[५५] मन्त्र का तथा केतु के शमन के लिये **उदु॒ त्यं जा॒तवे॑दसं दे॒वं व॑हन्ति के॒तवः॑। दृ॒शे विश्वा॑य॒ सूर्य॑म्**[५६] मन्त्र का विनियोग करना पूर्णतया काल्पनिक है, परन्तु ज्योतिष को आजीविका के रूप में अपनाने वाला वर्ग ऐसा करता हुआ देखा जा सकता है। इससे पूर्व ब्राह्मणग्रन्थों, सूत्रग्रन्थों आदि में भी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त मन्त्र में प्रयुक्त पृथिवी आदि पद प्रतीकात्मक हैं, और उनका प्रतीकात्मक अर्थ स्त्री आदि हो सकता है, उस पर विचार न करते हुए मन्त्र के विनियोग को पृथिवी के अर्थ में सीमित कर दिया गया है। इस विसंगति की ओर सङ्केत करते हुए पं०बुद्धदेव विद्यालङ्कार कहते हैं-

अना॑धृष्टा पु॒रस्ता॑द॒ग्नेराधि॑पत्य॒आयु॑र्मे दाः।
पु॒त्रव॑ती दक्षि॒ण॒तइ॒न्द्र॒स्याऽधि॑पत्ये॒ प्र॒जां मे॑ दाः।
सु॒षदा॑ प॒श्चाद्दे॒वस्य॑ स॒वि॒तुराधि॑पत्ये॒ चक्षु॑र्मे दाः।
आश्रु॑तिरुत्त॒र॒तो धा॒तुराधि॑पत्ये रा॒यस्पोषं॑ मे दाः।
विधृ॑तिरु॒परि॑ष्टा॒द् बृ॒ह॒स्प॒ते॒राधि॑पत्य॒ओजो॑ मे दाः।
विश्वा॑भ्यो मा नाष्ट्राभ्य॑स्पाहि॒ मनो॒रश्वा॑सि॥[५७]

ऊपर वर्णित मन्त्र का महीधरकृत भाष्य देखिये-'हे पृथिवी ! जो तू पूर्वदिशा में राक्षसों से अनाधृष्टा है, अग्नि के आधिपत्य में मुझे (यजमान को) आयु दे। जो तू दक्षिणदिशा में इन्द्र के आधिपत्य में पुत्रवती है, सो तू मुझे सन्तान दे, जो तू पश्चिमदिशा में सुषदा अर्थात् जिसमें सब भली प्रकार बैठें ऐसी है, सो सवितादेव के आधिपत्य में मुझे नेत्र दे। हे पृथिवी ! जो तू उत्तरदिशा में ब्रह्मा के आधिपत्य में आश्रुति है अर्थात् ब्राह्मणों के वेदश्रवण से युक्त है, सो तू मुझे धन की पुष्टि दे। जो तू ऊपर की दिशा में बृहस्पति के आधिपत्य में विधृति है, सो मुझे ओज दे। हे महावीरपात्र के दक्षिण की ओर की भूमि ! तू सब नाशकारक पिशाच आदि से हमारी रक्षा कर। हे महावीर के उत्तरभाग की भूमि ! तू राजा मनु की घोड़ी है।'[५८]

लेकिन आचार्य दयानन्द सरस्वती उक्त मन्त्र का अर्थ एकदम विलक्षण करते हुए कहते हैं कि `हे पत्नी ! मेरा धर्म है कि मेरे रहते कोई तेरी ओर आँख न उठा सके और तुझे सदा उचित आदर से देखे। इस प्रकार अनाधृष्टा तू अग्नि के राज्य में मुझे आयु देने वाली हो, मेरी दक्षिणदिशा में अर्थात्

---

५५. यजु०३६.१२
५६. यजु०३३.३१
५७. यजु०३७.१२
५८. पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार, यजुर्वेद-अथर्ववेदभाष्यम्, भूमिका पृ०१०

वीर्यशक्तिसम्पन्न होने की दशा में तू पुत्रवती होकर इन्द्र के राज्य में मुझे प्रजा देनेवाली हो, उचित रूप से घर की देखरेख के लिये घर में बैठने वाली सुषदा होकर तू मेरे घररूपी सवितृमण्डल में मुझे आँख देने वाली हो। चारों ओर का ठीक-ठाक गृहवृत्तान्त मुझे सुनाने वाली हो, अत एव आश्रुति बनकर तू उत्तर दिशा में अर्थात् मेरे वामाङ्ग में धाता के राज्य में मेरी गृहलक्ष्मी की पोषक बन, मेरे सिर पर धारने योग्य विधृति अर्थात् छत्ररूप बनकर तू बृहस्पति के राज्य में अर्थात् मेरे मस्तिष्क में ओज भरने वाली बन। तू सब नाष्ट्रा अर्थात् व्यभिचारादि द्वारा हमारा जीवन नष्ट करने वाली दुराचारिणी स्त्रियों से मेरी रक्षा कर, सो किस प्रकार ? कि-**मनोरश्वासि=अन्तःकरणस्य व्यापिका भवसि।** भावार्थ-तू मेरे मन में इस प्रकार व्याप जाती है कि किसी दुराचारिणी के लिये उसमें स्थान ही नहीं रहता। यह इस मन्त्र का ऋषि दयानन्दकृत अर्थ है।[५९] कितना स्पष्ट, कितना प्रकरणानुकूल, कितना युक्तिसङ्गत है। मन्त्र में पड़ा हुआ पुत्रवती शब्द पुकार-पुकार कर कह रहा है कि इसमें पत्नी का वर्णन है, इसका विनियोग पृथिवी में हुआ है। सो इसमें कुछ अयुक्त नहीं है।[६०]

उपर्युक्त दोनों मनीषियों के अर्थ का विश्लेषण करने पर पर ज्ञात होता है कि एक जहाँ मध्यकालीन मीमांसकों की परम्परा का अनुसरण करके मन्त्रार्थ को कलुषित कर रहा है, जबकि दूसरा प्रसङ्ग और औचित्य के आलोक में मन्त्र का व्याख्यान कर रहा है। मन्त्र में पठित `**पुत्रवती**' तथा `**मनोरश्वासि**' (मन में व्याप्त होने वाली) पद जितने पत्नी के साथ अच्छी प्रकार घटित होते हैं, उतने पृथिवी के सन्दर्भ में नहीं। अतः आचार्य दयानन्दकृत अर्थ सर्वथा समीचीन है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कल्पसूत्रों तथा अन्य ब्राह्मणग्रन्थादि साहित्य में किये गये विनियोग अन्तिमरूप से स्वीकार करने योग्य नहीं है। इनमें देवता, प्रकरण आदि का विचार करते हुए परिवर्तित किया जा सकता है। आचार्य दयानन्द ने ऐसा करके कोई अपराध नहीं किया है, वरन् मन्त्रार्थ

---

५९. दयानन्द यजु०भा०३७.१२ हे स्त्रि ! तू (अनाधृष्टा) दूसरों से नहीं धमकायी हुई (पुरस्तात्) पूर्वदेश से (अग्नेः) अग्नि के (आधिपत्ये) स्वामीपन में (मे) मेरे लिये (आयुः) जीवन के हेतु अन्न को (दाः) दे (पुत्रवती) प्रशंसित पुत्रों वाली हुई (दक्षिणतः) दक्षिण देश से (इन्द्रस्य) बिजुली वा सूर्य्य के (आधिपत्ये) स्वामीपन में (मे) मेरे लिये (प्रजाम्) प्रजा सन्तान (दाः) दीजिये (सुषदा) जिसके सम्बन्ध में सुन्दर प्रकार स्थित हो, ऐसी हुई (पश्चात्) पश्चिम से (देवस्य) प्रकाशमान (सवितुः) सूर्य्यमण्डल के (आधिपत्ये) स्वामीपन में (मे) मेरे लिये (चक्षुः) नेत्र (दाः) दीजिये (आश्रुतिः) अच्छे प्रकार से जिसका सुनना हो, ऐसी हुई तू (उत्तरतः) उत्तर से (धातुः) धारणकर्त्ता वायु के (आधिपत्ये) मालिकपन में (मे) मेरे लिये (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि को (दाः) दे (विधृतिः) अनेक प्रकार की धारणाओं वाली हुई (उपरिष्टात्) ऊपर से (बृहस्पतेः) बड़े-बड़े पदार्थों के रक्षक सूत्रात्मा वायु के (आधिपत्ये) स्वामीपन में (मे) मेरे लिये (ओजः) बल (दाः) दे। जिस कारण (मनोः) मननशील अन्तःकरण की (अश्वा) व्यापिका (असि) है, इससे (विश्वाभ्यः) सब (नाष्ट्राभ्यः) नष्ट-भ्रष्ट स्वभाववाली व्यभिचारिणियों से (मा) मुझको (पाहि) रक्षित कर॥

६०. पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार, यजुर्वेद-अथर्ववेदभाष्यम्, भूमिका पृ०९-१०

की विविधता और उसमें निहित ज्ञान-विज्ञान को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

वेदार्थ के लिये अर्हताएँ

आचार्य दयानन्द की वेद के विषय में मान्यता है कि मन्त्रार्थ करते समय दुराग्रह से काम नहीं करना चाहिये। इसका कारण उनके अनुसार यह है कि वेद सब विद्याओं से युक्त हैं अर्थात् उनमें जितने मन्त्र और पद हैं, वे सब सम्पूर्ण सत्यविद्याओं के प्रकाश करने वाले हैं और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्खा है, क्योंकि उनके शब्द धात्वर्थ के साथ योग रखते हैं। अपने कथन के समर्थन में दयानन्द आचार्य यास्क को प्रस्तुत करते हैं- **'तत्प्रकृतीतरद्वर्त्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्थ-चिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्य्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूक्तामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति ? तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढं तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति॥'** (निरु०१३.१२)

उक्त निरुक्त-खण्ड का व्याख्यान करते हुए स्वामी दयानन्द कहते हैं कि मन्त्रों के पदार्थ से भिन्न, विशेष्य-विशेषण रूप से सामान्यवृत्ति में वर्तमान जो मन्त्रों का अर्थ है, उसे जानने की इच्छा होती है कि इनका अर्थ क्या होगा ? इस प्रकार ऊहा अर्थात् विशेष अर्थ को जानने की इच्छा होने पर श्रवणमात्र या तर्कमात्र से ही मन्त्रों का अर्थ नहीं करना चाहिये, किन्तु प्रकरण की अनुकूलता से पूर्वापर-सम्बन्ध के आधार पर मन्त्रार्थ करना चाहिये।[६१]

इसके अतिरिक्त अनृषि, अतपस्वी, अशुद्ध अन्तःकरण वाले, अविद्वान् को इन मन्त्रों में निहित अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता। जब तक कोई पारोवर्यवित् अर्थात् पूर्व और अपर का ज्ञाता, मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष कर सकने में समर्थ, मनुष्यों में बहुत विद्याओं से युक्त नहीं होता है, तब तक वह मन्त्रार्थ करने के लिये प्रयत्नशील होने पर भी वेदार्थ का व्याख्यान नहीं कर सकता।[६२]

इस विषय में आचार्य यास्क इतिहास का उल्लेख करते हैं- प्राचीन काल में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के न रहने पर मनुष्यों ने विचार किया कि हमारे मध्य कौन ऋषि होगा? उत्तर मिला कि सत्य और असत्य के

---

६१. ऋ०भा०भू० (वेदविषयविचारः) तस्य मन्त्रसमूहस्य पदशब्दाक्षरसमुदायानामितरत् परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामान्यवृत्तौ वर्त्तमानानां मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति। कोऽयं खल्वस्य मन्त्रस्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहो बुद्धावाभिमुख्येनोहो विशेषज्ञानार्थस्तर्को मनुष्येण कर्त्तव्यः। नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् पृथङ् मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः। किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः।

६२. ऋ०भा०भू० (वेदविषयविचारः) किञ्च नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तःकरणस्याविदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति। न यावद्वा पारोवर्य्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयोविद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति, न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति।

विज्ञान के द्वारा वेदार्थ का बोध कराने के लिये तुम्हें तर्करूपी ऋषि प्रदान किया जाता है।[६३] वह तर्क किस प्रकार का है ? मन्त्रार्थ के चिन्तन से युक्त, मन्त्रार्थ के विज्ञान को बतलाने वाला। इससे यह सिद्ध होता है कि जो कोई विद्या में पारङ्गत विद्वान् मन्त्रार्थ की ऊहा करता है अर्थात् वेदार्थ का प्रकाशन करता है, वह आर्ष अर्थात् ऋषिप्रोक्त वेदार्थ होता है। परन्तु जो अल्पविद्या और अल्पबुद्धि वाले पक्षपाती मनुष्य के द्वारा मन्त्रार्थ किया जाता है, वह अनार्ष होता है, वह मन्त्र का मिथ्या अर्थ होता है। इस प्रकार के मन्त्रार्थ का कभी भी आदर नहीं करना चाहिये। क्योंकि, वह अनर्थ से युक्त है और उसका आदर करने से मनुष्यों को भी अनर्थ की प्राप्ति होती है।[६४]

उपर्युक्त विवेचन में आचार्य दयानन्द ने वेदभाष्य की अर्हता प्रतिपादित करते हुए सत्य प्रमाण, सुतर्क, प्रकरण के माध्यम से वेदों के शब्दों का पूर्वापर बोध, व्याकरण आदि वेदाङ्ग ज्ञान, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों और शाखान्तरों का यथावत् बोध, परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उनके सङ्ग से पक्षपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि और आचार्य लोगों के किये व्याख्यान को आधार माना है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम स्वामी दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में मन्त्रार्थ के उपकरण बिन्दुरूप में निम्न प्रकार समझ सकते हैं-

प्रथम उपकरण- सत्यप्रमाण, **द्वितीय उपकरण-** सुतर्क, **तृतीय उपकरण-**प्रकरण से वेद के शब्दों के पदार्थ का पूर्वापर-ज्ञान, **चतुर्थ उपकरण-** वेदाङ्गों, ब्राह्मणग्रन्थों, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों एवं शाखान्तरों का बोध, **पञ्चम उपकरण-**परमेश्वर का अनुग्रह, **षष्ठ उपकरण-**उत्तम शिक्षा, **सप्तम उपकरण-**आत्मा की शुद्धि, **अष्टम उपकरण-**आचार्यों के व्याख्यान।

उपर्युक्त अर्हताओं के अतिरिक्त वेदभाष्य के विषय में उनका यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि `वेद के जितने मन्त्र और पद हैं, वे सब सम्पूर्ण सत्यविद्याओं के प्रकाश करने वाले हैं और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्खा है, क्योंकि उनके शब्द धात्वर्थ के साथ योग रखते हैं।' वेद का व्याख्यान वेद से करने की बात कहकर वे आख्यातज-सिद्धान्त की ओर उन्मुख हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में आख्यातज सिद्धान्त के आधार पर व्याख्यान करना वेद से वेद का व्याख्यान है, परन्तु यह कथन

---

६३. ऋ०भा०भू० (वेदविषयविचारः) अत्रेतिहासमाह-पुरस्तात्कदाचिन्मनुष्या ऋषिषु मन्त्रार्थद्रष्टृषूत्कामत्स्वतीतेषु सत्सु देवान् विदुषोऽब्रुवन्नपृच्छन् कोऽस्माकं मध्ये ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्यः सत्यासत्यविज्ञानेन वेदार्थबोधार्थं चैतं तर्कमृषिं ते प्रायच्छन् दत्तवन्तोऽयमेव युष्मासु ऋषिर्भविष्यतीत्युत्तरमुक्तवन्तः।

६४. ऋ०भा०भू० (वेदविषयविचारः) कथं भूतं तं तर्कम्? मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्, मन्त्रार्थविज्ञानकारकम्। अतः किं सिद्धम् ? यः कश्चिदनूचानो विद्यापारगः पुरुषोऽभ्यूहति, वेदार्थमभ्यूहते प्रकाशयते, तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम्। किञ्च यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना, पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्षमनृतं भवति। नैतत्केनाप्यादर्तव्यमिति। कुतः? तस्यानर्थयुक्तत्वात्। तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्चेति।'

कुछ चिन्त्य हो सकता है, तथापि वेद से वेद का व्याख्यान करने की बात उनकी उपर्युक्त सभी अर्हताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। वेद जिस भावभूमि से अवतरित हुए हैं, उसको समझने के लिये शास्त्रीय और लौकिक उपाय पर्याप्त नहीं हो सकते। जिस प्रकार शरीर का उपचार जितना अच्छा शरीर की शक्ति के माध्यम से किया जा सकता है, अन्य कोई भी विधा उतनी सटीक नहीं हो सकती; उसी प्रकार वेद से वेद का व्याख्यान भी है। सभी भाष्यकारों के साथ समस्या यह रही है कि वे एक विशेष दृष्टि लेकर भाष्य करने में प्रवृत्त हुए हैं, अपरिहार्य नहीं है कि वह दृष्टि मन्त्र की मूल भावना के निकट हो। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि हम वेद को वेद के आलोक में ही देखें।

मन्त्रार्थ में पुराण की उपयोगिता

जहाँ तक पुराण से वेद वा मन्त्रार्थ की पुष्टि का सम्बन्ध है, इस विषय में आचार्य दयानन्द का अभिमत है कि गरुड़पुराणादि ग्रन्थ वेद के विरोधी और उलटे चलते हैं तथा तन्त्र भी वैसे ही हैं। जैसे कोई मनुष्य एक का मित्र सब संसार का शत्रु हो, वैसा ही पुराण और तन्त्र का मानने वाला पुरुष होता है, क्योंकि एक दूसरे से विरोध करने वाले ये ग्रन्थ हैं। इनका मानना किसी विद्वान् का काम नहीं, किन्तु इनको मानना अविद्वत्ता है। देखो ! शिवपुराण में त्रयोदशी, सोमवार; आदित्यपुराण में रवि; चन्द्रखण्ड में सोमग्रह वाले; मङ्गल, बुध, बृहस्पति; शुक्र, शनैश्चर राहु, केतु के; वैष्णव एकादशी; वामन की द्वादशी; नृसिंह वा अनन्त की चतुर्दशी; चन्द्रमा की पौर्णमासी; दिक्पालों की दशमी; दुर्गा की नौमी; वसुओं की अष्टमी; मुनियों की सप्तमी; कार्त्तिकस्वामी की षष्ठी; नाग की पञ्चमी; गणेश की चतुर्थी; गौरी की तृतीया; अश्विनीकुमार की द्वितीया; आद्यादेवी की प्रतिपदा और पितरों की अमावस्या; पुराणरीति से ये दिन उपवास करने के हैं। और सर्वत्र यही लिखा है कि जो मनुष्य इन वार और तिथियों में अन्नपान ग्रहण करेगा वह नरकगामी होगा। अब पोप और पोपजी के चेलों को चाहिये कि किसी वार अथवा किसी तिथि में भोजन न करें, क्योंकि जो भोजन वा पान किया तो नरकगामी होंगे। अब **`निर्णयसिन्धु', `धर्मसिन्धु', `व्रतार्क'** आदि ग्रन्थ जो कि प्रमादी लोगों के बनाये हैं, उन्हीं में एक-एक व्रत की ऐसी दुर्दशा की है, जैसे एकादशी को शैव दशमीविद्धा में, कोई द्वादशी में एकादशी का व्रत विचित्र पोपलीला है कि भूखे मरने में भी वाद-विवाद ही करते हैं।'[६५]

उपर्युक्त विवेचन में दयानन्द ने पूर्वापर विरोधी स्वभाव होने के कारण पुराणों की उपयोगिता को अस्वीकार कर दिया है। उनके अनुसार वेद और वेदार्थ की दृष्टि से ही नहीं, अपितु सामान्य-रूप से भी पुराण अग्राह्य हैं। आचार्य दयानन्द का पुराण के विषय में चिन्तन और निष्कर्ष सर्वथा युक्तिसङ्गत है।

६५. स०प्र०एका०समु०

ऋषि और वर्ण्य-विषय

क्या ऋषि मन्त्र का देवता या वर्ण्यविषय हो सकता है ? जब हम इस प्रश्न का उत्तर यास्क के साहित्य में प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, तब ज्ञात होता है कि यास्क ने समयानुसार भिन्न-भिन्न नीति का अवलम्बन किया है। `**नाभाकस्य प्रशस्तिभिः**'[६६] इस मन्त्र के प्रसङ्ग में आचार्य यास्क `नाभाक' का अर्थ नाभाक नाम का ऋषि लेते हैं।[६७] परन्तु `**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**०'[६८] के प्रसङ्ग में आचार्य यास्क देवता मानकर `हिरण्यगर्भ' का वर्णन करते हैं, जबकि उक्त स्थल पर यह ऋषि का नाम है।[६९] आचार्य दुर्ग के अनुसार यहाँ हिरण्यगर्भ ऋषि भी है और देवता भी, वह अभिधान भी है और अभिधाता भी।[७०] यदि हम यास्क के साहित्य के अध्ययन के आधार पर ऋषि का रेखाचित्र तैय्यार करें तो ज्ञात होता है कि यास्क के साहित्य में ऋषि द्रष्टा, स्रष्टा और कहीं इन दोनों स्थितियों से भिन्न मन्त्र का विनियोग करने वाला है। जहाँ तक आचार्य दयानन्द की दृष्टि में ऋषि के स्वरूप का प्रश्न है तो निस्सन्देह उनकी दृष्टि में ऋषि ईश्वर से लेकर विद्याओं का ज्ञाता, विज्ञान के अनुसार कर्म करने वाला, मन्त्रार्थ द्रष्टा आदि है। उनकी दृष्टि में मनुष्यरूपी ऋषि कभी भी मन्त्रनिर्माता नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्द ऋषि के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं-

१. जो सब विद्याओं को जान के सबको पढ़ाता है, उसको `ऋषि' कहते हैं।[७१]

२. जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करने वाला है, उसका `ऋषि' नाम होता है।[७२]

३. अर्थ को ठीक-ठीक जान के उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल है और जो लोग इस नियम पर चलते हैं, वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं। इसलिये जिन्होंने सब विद्याओं को यथावत् जाना था; वे ही ऋषि हुए थे। जिन्होंने अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है।[७३]

४. जो रागद्वेषादि दोषों को दूर से छोड़ आपस में प्रीति रखनेवाले हों, ब्रह्मचर्य्य से धर्म के अनुष्ठानपूर्वक समस्त वेदों को जान के सत्य-असत्य का निश्चय कर सत्य को प्राप्त हो और असत्य को छोड़ के

---

६६ ऋ०,८.४१.२.

६७ निरु०,१०.५.

६८ ऋ०,१०.१२१.१.

६९ निरु०,१०.२३.

७० दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,८५२.

७१. प०म०य०वि० यः सर्वविद्याविद् भूत्वाध्यापयति तमनूचानमृषिमाहुः।

७२. प०म०य०वि० यश्च विद्वानस्ति यश्चापि विद्यां गृह्णाति, स ऋषिसञ्ज्ञां लभते।

७३. ऋ०भा०भू० प्रश्नोत्तरविषयः-विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम्। य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति। कीदृशास्ते ? साक्षात्कृतधर्माणः। यैः सर्वा विद्या यथावद्विदितास्त ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान् सम्प्रादुः, मन्त्रार्थांश्च प्रकाशितवन्तः।

आप्तों के भाव से वर्त्तते हैं, वे सुशिक्षित सारथियों के समान अभीष्ट धर्मयुक्त मार्ग में जाने को समर्थ होते और वे ही ऋषिसञ्ज्ञक होते हैं।[७४]

५. जो विद्वानों के समीप से उत्तम ज्ञान को पाकर ऋषि होते हैं, वे सबको विज्ञान देने से पुष्ट करते हैं, जो परस्पर एक-दूसरे की उन्नति कर परिपूर्णकाम वाले होते हैं, वे जगत् के हितैषी होते हैं।[७५]

६. सर्वद्रष्टा होने से ऋषि ईश्वर है, वह जिस अर्थ को चाहता हुआ कि मैं इस अर्थ का उपदेश करूँ, जिस देवता में अर्थ का स्वामित्व की उपदेश करने की इच्छा से स्तुति का प्रयोग करता है अर्थात् उस वस्तु के गुणों का वर्णन करता है, वही उस मन्त्र का देवता होता है। इसके अतिरिक्त जिस अर्थ का बोध कराने के लिये देवता प्रकाश्य होता है, वह मन्त्र देवता शब्द से कहा जाता है, ऐसा जाना जाता है।[७६]

७. जहाँ तक ऋषि मन्त्र का निर्माता है या नहीं, इस विषय में आचार्य का मत है कि कोई भी मनुष्य मन्त्र का निर्माता नहीं हो सकता। जिस-जिस ऋषि ने जिस-जिस मन्त्र के अर्थ का प्रकाशन किया है, उस-उस ऋषि का उस-उस मन्त्र के साथ नामोल्लेख किया किया गया है।[७७]

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्य दयानन्द की दृष्टि में ऋषि का स्वरूप निम्न है-

१. जो विद्या के प्रति समर्पित है, वह ऋषि है।

२. अर्थ को यथावत् जानकर उसके अनुसार चलने वाला धर्मात्मा व्यक्ति ऋषि है।

३. जो अवर मनुष्यों को मन्त्रार्थ प्रकाशित करता है, वह ऋषि है।

४. जो राग-द्वेषादि से रहित, ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदों के अध्ययन से सत्यासत्य का निश्चय करके आप्तभाव से व्यवहार करता है, वह ऋषि है।

५. जो विद्वानों से विद्या को प्राप्त करके विद्यादान करता है, वह ऋषि है।

---

७४ यजु०भा०३४.४९ ये रागद्वेषादिदोषान् दूरतस्त्यक्त्वा परस्परस्मिन् प्रीतिमन्तो भूत्वा ब्रह्मचर्येण धर्माऽनुष्ठानपुरःसरमखिलान् वेदान् विज्ञाय सत्याऽसत्ये विविच्य सत्यं लब्ध्वाऽसत्यं विहायाप्तभावेन वर्त्तन्ते, ते सुशिक्षिताः सारथय इवाऽभीष्टं धर्म्यं मार्गं गन्तुमर्हन्ति, त एवर्षिसञ्ज्ञां लभन्ते।

७५. यजु०भा०२५.३० ये विदुषां सकाशाद् विज्ञानं प्राप्यर्षयो भवन्ति, ते सर्वान् विज्ञानदानेन पोषयन्ति, येऽन्योन्यस्योन्नतिं विधाय सिद्धकामा भवन्ति, ते जगद्धितैषिणो जायन्ते।

७६. ऋ०भा०भू० वेदविषयविचारः ऋषिरीश्वरः सर्वदृग्, यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्त्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति। किञ्च यदेवार्थप्रतीतिकरणदैवतं प्रकाश्यं येन भवति, स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योऽस्तीति विज्ञायते।

७७. ऋ०भा०भू० (प्रश्नोत्तरविषयः। अतो नैव कश्चिन्मनुष्यो मन्त्रनिर्मातेति विज्ञेयम्। एवं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोऽस्ति।

६. मनुष्यरूप ऋषि मन्त्रनिर्माता नहीं है।

७. सर्वद्रष्टा ईश्वर भी ऋषि है और यही मन्त्र का निर्माता भी है।

उपसंहार

मन्त्रार्थ के उपकरण विषय का प्रतिपादन करते हुए हमने यास्क से लेकर दयानन्द पर्यन्त आचार्यों के विचारों का विवेचन किया है। उक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि दयानन्द ने मन्त्रार्थ के जिन उपकरणों का उल्लेख किया है, उसमें ऋषि, देवता, विनियोग और ज्योतिष को छोडकर पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित सभी मन्त्रार्थ के उपकरण समाहित हो जाते हैं। जिस प्रकार इन चारों उपकरणों को देखने की परम्परा रही है, उससे दयानन्द का विरोध है। दयानन्द-साहित्य के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि दयानन्द ने ऋषि, देवता आदि सब कुछ स्वीकार किया है, परन्तु उसको स्वीकार करने के मूल में अवधारणा भिन्न है।

हम निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि निर्विवादरूप से मन्त्रार्थ के उपकरणों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं, **प्रथम**- मन्त्रार्थकर्त्ता की योग्यता से सम्बन्धित, जैसे-भूयोविद्य, ऋषि, तपस्वी, तर्क का उपयोग करने में सक्षम आदि। **द्वितीय**- साहित्यपरक उपकरण। जैसे-१. वेदाङ्ग, २. वेद की शाखाएँ, ३. ब्राह्मणग्रन्थ, ४. प्रकरणपूर्वक मन्त्रार्थ, ५. मन्त्र से मन्त्रार्थ की पुष्टि।

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष
श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उत्तराखण्ड)